संपादकीय

साहित्य का सामाजिक सरोकार

साहित्य और समाज के अंतर्संबंध तथा पारस्परिक निर्भरता को लेकर विद्वानों में सदा से विवाद रहा है। 'साहित्य समाज का दर्पण है' यह कथन साहित्य के अध्येताओं के लिए लगभग 'तकिया कलाम' बन गया है। यह कितना सत्य है बिना विचारे ही प्रयोग किये जा रहे हैं। यह सर्वविदित है कि समाज और साहित्य का गहरा अंतर्संबंध है। समाज के परे साहित्य की कल्पना संभव नहीं है। दोनों की परस्पर निर्भरता भी निर्विवाद है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस पर अपना मंतव्य देते हुए कहा है- "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृतियों का संचित प्रतिबिंब होता है.....।" जैसे-जैसे समाज का स्वरूप बदलता गया, वैसे-वैसे ही साहित्य के स्वरूप तथा अवधारणाओं में परिवर्तन होता गया। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन समाज में वीरता, श्रृंगार तथा भक्तिपरकता की प्रधानता थी, इसीलिए इस दौर में वीर रस, श्रृंगार रस तथा भक्ति संबंधी साहित्य का सृजन किया गया। भक्तिकाल में भारतीय मानस के केन्द्र में भक्तिभाव स्थित हो गया, तो इस काल में भक्तिपरक काव्यों- महाकाव्यों का निर्माण किया गया। रीतिकालीन समाज वासना- विलास में निमग्न था तो इस दौरान वैसे ही काव्यों का निर्माण किया गया। आधुनिक समाज की सोच भी जिस तेजी के साथ परिवर्तन हुआ, उसी तेजी के साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ निर्मित होती गई। समकालीन समाज में अस्मितामूलक चेतना उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप अनके विमर्शों का दौर प्रारंभ हुआ। दलित विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी विमर्श, किन्नर विमर्श, दिव्यांग विमर्श आदि इसकी परिणतियाँ हैं।

साहित्यकार चाहे जितना भी वैयक्तिक होकर सृजन करे, वह समाज से अपना पल्ला नहीं झाड़ सकता है। कोई न कोई समाज तो होगा ही, जिसमें साहित्यकार पला-बढ़ा होगा। वहाँ की तमाम परिस्थितियों ने जाने- अनजाने में उसे रचा होगा। ऐसे में उनकी कोई भी अभिव्यक्ति सामाजिक परिप्रेक्ष्य से तटस्थ नहीं हो सकती। गोस्वामी तुलसीदास इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। उन्होंने एक जगह लिखा -"स्वांत: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।" फिर वहीं कहते हैं -"कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।" तुलसीदास का स्वांतः इतना विराट है कि उसमें संपूर्ण संसार का स्वांत: समाविष्ट हो जाता है।

साहित्य का यह सामाजिक दायित्व होता है कि वह एक ऐसे समाज की परिकल्पना करे, जो प्रगतिशील तथा अनुकरणीय हो। साहित्य का काम दर्पण जैसा नहीं होता कि वह समाज का आभासी प्रतिबिंब पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दे। उसका दायित्व है कि वह उससे आगे बढ़कर खामियों से रहित परिष्कृत समाज का निर्माण करे। जैसे तुलसीदास ने जिस समाज की परिकल्पना की है, वह उस समय का वास्तविक समाज नहीं है, बल्कि उससे अधिक उर्वर और प्रगतिशील समाज है। इसी प्रकार प्रत्येक साहित्यकार एक बेहतर समाज निर्माण की चेतना उत्पन्न करता है। समाज का यथारूप चित्रण साहित्य का नहीं, समाजशास्त्र का काम है। साहित्य और साहित्यकार का दायित्व निश्चय ही उससे विशिष्ट है। साहित्य वर्तमान की कोख से अवश्य निकलता है, परंतु अतीत के साथ भविष्य का आलोक उसमें अंतर्निहित होता है।

साहित्य का दायित्व वास्तव में इतिहास और समाजशास्त्र से बड़ा है। इसी कारण किसी भी साहित्यकार की सफलता अथवा विफलता का आधार उसकी सामाजिक सापेक्षिता है, परंतु अतीत के साथ भविष्य का आलोक उसमें अंतर्निहित होता है।

साहित्य का दायित्व वास्तव में इतिहास और समाजशास्त्र से बड़ा होता है। किसी भी साहित्यकार की सफलता अथवा विफलता का आधार उसकी सामाजिक सापेक्षिता ही है।

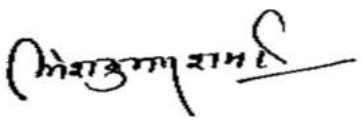

डॉ. उमेश कुमार शर्मा
अंक संपादक